18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 223

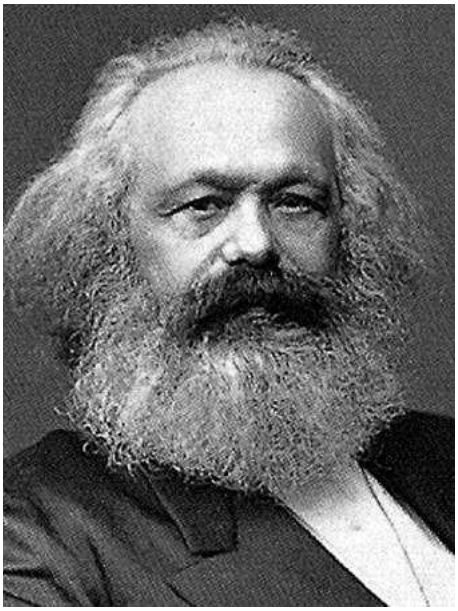

हिंद स्वराज और कम्युनिस्ट घोषणापत्र

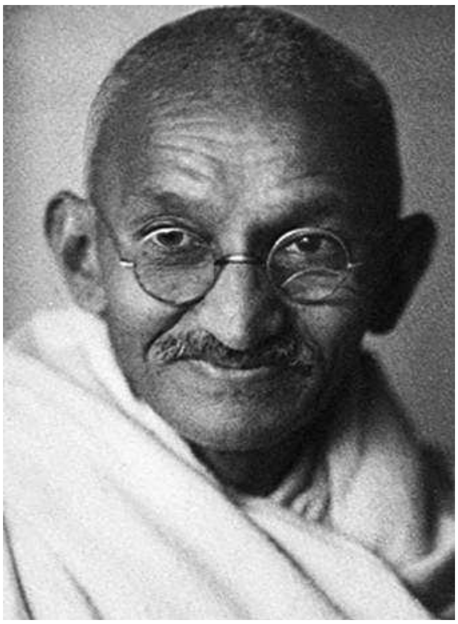

मार्क्स, गाँधी और हाइडेगर के आईने में एक पुनर्पाठ

अम्बिकादत्त शर्मा

सभ्यता की शुरुआत से ही मनुष्य जीवन और जगत के बारे में आदर्श दृष्टिकोण और परिकल्पनाएँ प्रस्तुत करता रहा है। आत्मचेतन हुई मानव-चेतना के लिए यह अस्वाभाविक भी नहीं है। भारतीय परम्परा में भी सभ्यता, संस्कृति और नीति-विषयक आदर्श दृष्टिकोणों का न केवल समृद्ध बल्कि प्राचीनतम इतिहास मिलता है। *रामायण, महाभारत,* मनु और कौटिल्य की रचनाओं, भीष्म के उपदेशों, शुक की नीतियों तथा *विदुर, कामंदक* इत्यादि में इससे संबंधित चिंतन के आदर्शवादी गुण-सूत्र साफ़ तौर से देखे जा सकते हैं। सही अर्थों में इन्हें 'नो प्लेस' के अर्थ में Utopians भी नहीं कहा जा सकता बल्कि 'गुड प्लेस' के अर्थ में इन्हें Eutopians कहना ज़्यादा उचित होगा। लेकिन विडम्बना यह है कि सभ्यता, संस्कृति और नीति

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 224

विषयक पश्चिमी चिंतन का जिस तरह प्रचार-प्रसार हुआ, उसमें भारतीय चिंतकों की बुनियादी और आदर्शवादी संकल्पनाओं के लिए आज कोई स्थान ही नहीं है। इसके लिए पश्चिम के प्राच्यविदों के ओरिएंटलिस्ट मिशन को ही एक-बारगी ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। ज़िम्मेदार तो हम सभी हैं जिन्होंने योग्य उत्तराधिकार भाव से अपनी वाङ्निधि के मूल्यवान तत्त्वों को दुनिया के सामने उस तरीक़े से प्रदर्शित ही नहीं किया।

सन् 2000 यानी सहस्राब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में ज़ाक बारज़ुन ने *फ़्राम डॉन टु डिकेडेंस : 500 हंड्रेड इयर्स ऑफ़ वेस्टर्न कल्चरल लाइफ़* नामक एक महत्त्वाकांक्षी विश्व-इतिहास ग्रंथ का प्रकाशन किया था।[1] इस विशाल रचना में इस नब्बे वर्षीय लेखक ने सभ्यता, संस्कृति के वैश्वीय संदर्भों पर अपने लम्बे अनुभवों का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया। इसी ग्रंथ में एक लम्बा और रोचक अध्याय है द *युटोपियंस* जिसमें दुनिया-भर के युटोपियाई चिंतन की खोज-ख़बर ली गयी है, लेकिन भारतीय चिंतकों का कहीं नामोनिशान भी नहीं है। याक बारज़ुन ने इस अध्याय में मार्क्स-एंगेल्स के *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* पर विस्तार से चर्चा की है लेकिन महात्मा गाँधी के *हिंद स्वराज* को संदर्भित भी नहीं किया है। द्रष्टव्य है कि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में की गयी आदर्श परिकल्पना की दृष्टि से *हिंद स्वराज* को *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* के मुक़ाबले किसी भी तरीक़े से कम नहीं आँका जा सकता, भले ही दोनों दस्तावेज़ों पर उनकी कार्ययोजनाओं अथवा सैद्धांतिक विवेचन की दृष्टि से ही क्यों न विचार किया जाए। अतएव यहाँ हम *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* और *हिंद स्वराज* आमने-सामने रख कर दोनों दस्तावेज़ों की कार्य-योजनाओं और उससे संबंधित कुछ उद्दिष्ट संकल्पनाओं के सिलसिले में तुलनात्मक विमर्श का प्रयास करेंगे। अवधेय है कि मार्क्स-एंगेल्स का *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* अपनी विचार-परम्परा की एक उत्तरवर्ती रचना है जिसकी अवधारणात्मक आधारशिला पहले से ही स्पष्ट की जा चुकी थी। लेकिन गाँधी का *हिंद स्वराज* उनकी एक प्रारम्भिक रचना है जिसके निहितार्थों का स्पष्टीकरण वे आजीवन करते रहे। इसलिए दोनों दस्तावेज़ों पर तुलनात्मक विमर्श के लिए न केवल मार्क्स और गाँधी के सम्पूर्ण चिंतन को परिप्रेक्ष्य में रखना होगा बल्कि कुछ समकालीन और बदलते हुए वैचारिक परिदृश्यों के संदर्भ में भी विचार करना अपेक्षित होगा। मैं अपने इस छोटे से प्रयास में *हिंद स्वराज* के सौ वर्ष पूरे होने के मौक़े पर यथासम्भव ऐसा ही करने का प्रयास करूँगा।

I

कार्ल मार्क्स और एंगेल्स द्वारा पहली बार 1848 में जर्मन भाषा में *मेनिफ़ेस्टो ऑफ़ द कम्युनिस्ट पार्टी* का प्रकाशन होने के बाद से ही उसका व्यापक प्रचार-प्रसार दुनिया बदल सकने वाली पुस्तक के रूप में होने लगा। इसने उस समय संसार की सबसे अधिक बिकने वाली पुस्तक का स्थान प्राप्त किया। दरअसल, जिस आह्वान के साथ मार्क्स ने इसे प्रस्तुत किया था, तत्कालीन यूरोप में इसके स्वागत का मानस पहले से ही तैयार हो चुका था। इसकी सैद्धांतिक पृष्ठभूमि पहले से ही एक सशक्त विचारधारा का स्वरूप ले चुकी थी। इसके विपरीत गाँधी ने 1909 में जब पहली बार *हिंद स्वराज* को गुजराती भाषा में पुस्तकाकार प्रस्तुत किया तो भारतीय जनमानस में यह उतना प्रचारित नहीं हुआ, बल्कि कुछ अंग्रेज़ शासकों को ऐसा ज़रूर लगा कि यदि इस छोटी सी पोथी का अधिक प्रचार-प्रसार हुआ तो भारतीय जनमानस में ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध की आग भड़क सकती है। इसी अंदेशे में तत्कालीन बम्बई सरकार ने इसे प्रतिबंधित कर दिया। इस प्रतिबंध के प्रत्युत्तर में और कैलेन बैक को पढ़ाने की

[1] ज़ाक बारज़ुन (2000), *फ़्रॉम डॉन टु डिकेडेंस : 500 इयर्स ऑफ़ वेस्टर्न कल्चरल लाइफ़,* हार्पर कोलिंस, न्यूयार्क.

मेनिफ़ेस्टो का प्राथमिक लक्ष्य ही यदि अल्पायु सिद्ध हुआ तो उसके चरम लक्ष्य को यथार्थ से बहिष्कृत परिकल्पना के रूप में ही स्वीकार करना होगा। वास्तविकता भी यही है कि पूँजीवादी राज्य-व्यवस्था के विकल्प के रूप में कम्युनिज़म आज मृत अथवा मृतप्राय ही है, लेकिन इसमें दो राय नहीं कि एक विचार-व्यवस्था के रूप में उसका स्थान मनुष्य की आदर्शोन्मुखी चेतना में सदैव सुरक्षित रहेगा।

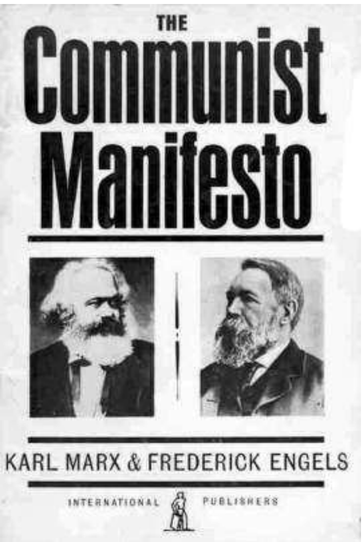

ख़ातिर गाँधी ने 1912 में इसका अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया। वस्तुत: इस पोथी में हिंदुस्तान के स्वराज के आधारभूत ढाँचे को एक वैकल्पिक सभ्यता बोध के रूप में जिस सहजता और मौलिकता के साथ गाँधी ने प्रस्तुत किया था वह तत्कालीन भारतीय जनमानस को उतनी गहराई से प्रभावित कर भी नहीं सकता था। अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने से भारतवासियों में जिस राजनीतिक अस्मिता की चेतना जगी थी, उसमें अपनी सभ्यता और संस्कृति के क्षरण का सरोकार सम्मिलित ही नहीं था। गोखले ने तो *हिंद स्वराज* पर टिप्पणी करते हुए यहाँ तक कहा था कि इस पोथी में गाँधी के विचार इतने अनगढ़ हैं कि एक साल के बाद वे इसे स्वयं ही नष्ट कर देना चाहेंगे। दूसरी तरफ़ जेराल्ड हर्ड ने कहा था कि यह गाँधी द्वारा एक ऐसे प्रयोग की शुरुआत है जिसका महत्त्व युगों तक क़ायम रहेगा।

जो भी हो, ये दोनों रचनाएँ अपने प्रस्तुत होने के साथ ही एक युगांतकारी दस्तावेज़ होने के संकेत देने लगी थीं। ये दोनों दस्तावेज़ अपनी बनावट में सैद्धांतिक विवेचन होने के साथ-साथ उसे क्रियान्वित और चरितार्थ करने की कार्य-योजनाएँ भी प्रस्तुत करते हैं। इनमें सैद्धांतिक विवेचन पार्श्व में है, और कार्य-योजना मुखर रूप से सामने आयी है। इस कारण ये दोनों दस्तावेज़ पहली नज़र में सामान्य अदीक्षित व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए प्रतीत होते हैं। घोषणापत्र के पार्श्व में जो सैद्धांतिक दृष्टि काम कर रही थी, वह द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में पूरे तौर से अनावृत हो चुकी थी; लेकिन *हिंद स्वराज* के पार्श्व में जो दार्शनिक दृष्टि कार्य कर रही थी, वह स्पष्ट रूप से अनावृत नहीं थी। वह तो एक बोधि के रूप में मानों बुद्ध-पुरुष के मुख से सहज ही प्रस्फुटित हुई थी। आज भी गाँधी के *हिंद स्वराज* को उसके सम्पूर्ण निहितार्थों और निष्पत्तियों के साथ उद्‌घाटित करने के लिए एक ऐसे व्याख्याकार की ज़रूरत है जो वास्तव में उस पर एक महाभाष्य लिख सके। यद्यपि गाँधी ने अपने जीवन में जो कुछ भी कहा और लिखा, वह सब कुछ *हिंद स्वराज* की व्याख्या ही कही जा सकती है लेकिन फिर भी वह *गाँधी वाङ्मय* स्वयं गाँधी की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र और *हिंद स्वराज* के उद्‌देश्य, साधन और फल में कितनी भी भिन्नता क्यों न रही हो लेकिन दोनों में अपने-अपने नज़रिये के प्रति अखण्ड प्रामाणिकता और प्रचण्ड आत्मविश्वास दिखाई पड़ता है। इसलिए तमाम टीका-टिप्पणियों के बीच और बदलती हुई परिस्थितियों के बावजूद मार्क्स अपने घोषणापत्र और गाँधी अपने *हिंद स्वराज* में किसी प्रकार के संशोधन-परिवर्द्धन के लिए तैयार नहीं थे। मेनिफ़ेस्टो के विविध अनुवादों और अन्यान्य संस्करणों की भूमिकाएँ

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 226

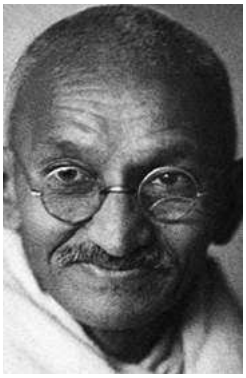

आज भी गाँधी के *हिंद स्वराज* को उसके सम्पूर्ण निहितार्थों और निष्पत्तियों के साथ उद्‌घाटित करने के लिए एक ऐसे व्याख्याकार की ज़रूरत है जो वास्तव में उस पर एक महाभाष्य लिख सके। यद्यपि गाँधी ने अपने जीवन में जो कुछ भी कहा और लिखा, वह सब कुछ *हिंद स्वराज* की व्याख्या ही कही जा सकती है लेकिन फिर भी वह *गाँधी वाड्‌मय* स्वयं गाँधी की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है।

मार्क्स और एंगेल्स ने ही लिखी थीं। मार्क्स के जीवनकाल में मेनिफ़ेस्टो का अंतिम संस्करण 1882 में प्रकाशित हुआ था। द्रष्टव्य है कि 1848 से 1882 तक यानी इन 34 वर्षों में लेखक द्वय के द्वारा मेनिफ़ेस्टो में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। 1872 में मेनिफ़ेस्टो के एक जर्मन संस्करण की भूमिका में लेखक-द्वय ने यह लिखा भी है कि 'मेनिफ़ेस्टो तो अब एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ हो गया है जिसे बदलने का अब हमें कोई अधिकार नहीं रह गया है।' यह बात अलग है कि मार्क्स के बाद लेनिन और माओ ने मार्क्सवाद में कुछ सैद्धांतिक एवं कार्य-योजनागत परिवर्द्धन किये हैं। इसी तरह उल्लेखनीय है कि गाँधी ने भी *हिंद स्वराज* में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता कभी भी महसूस नहीं की। 1921 में *हिंद स्वराज* के हिंदी अनुवाद की प्रस्तावना लिखते हुए उन्होंने कहा था कि 'यह पुस्तक मैंने 1909 में लिखी थी। आज बारह वर्ष के मेरे अनुभव के बाद भी मेरे विचार जैसे उस समय थे, वैसे आज भी हैं। हाँ, मिलों के संबंध में मेरे विचारों में इतना परिवर्तन हुआ है कि हिंदुस्तान की आज की हालत में मैंचेस्टर के कपड़े के बजाय हिंदुस्तान की मिलों को ही प्रोत्साहन दे कर अपनी ज़रूरत का कपड़ा अपने देश में ही तैयार कर लेना चाहिए।' पुन: 1938 में गाँधी ने अपने द्वारा भेजे गये एक संदेश[2] में कहा था कि '*हिंद स्वराज* पुस्तक अगर आज मुझे फिर से लिखनी हो तो कहीं-कहीं मैं उसकी भाषा बदलूँगा। इसे लिखने के बाद जो तीस साल मैंने अनेक आंधियों में बिताए हैं, उनमें मुझे इस पुस्तक में बताए विचारों में फेरबदल करने का कुछ भी कारण नहीं मिला।' वस्तुत: अपने विचारों के प्रति अडिग रहना और अपने विचारों में अच्छे परिवर्तन के लिए तैयार रहना, दोनों ही अपने-अपने तरीक़े की बौद्धिक ईमानदारी है। लेकिन मार्क्स और गाँधी दोनों ही सामान्य जन की अकादमिक ईमानदारी से ऊपर की बोध-भूमि के व्यक्ति थे। गाँधी ने तो *हिंद स्वराज* के बाद भी बहुत लिखा और अवांतर प्रसंगों में बहुत कुछ कहा लेकिन उनकी प्रारम्भिक रचना *हिंद स्वराज* को संदर्भ बना कर उनके हिंदस्वराजोत्तर विचारों में किसी प्रकार का अंतर्विरोध दिखा पाना असम्भव जैसा है। आज गाँधी के विषय में बहुत कुछ ऐसा भी लिखा जा रहा है जो उन्हें निंदित रूप में प्रस्तुत करता है। वस्तुत: चेतना की उच्च भूमि पर स्थित व्यक्ति का मूल्यांकन जब साधारण चेतना के धरातल की कसौटियों पर किया जाता है तो ऐसी भूलें स्वाभाविक रूप से हो जाया करती हैं। हम भूल जाते हैं कि चेतना के दो भिन्न धरातल पर उन्मीलित दृष्टियों की अर्थवत्ता और तदनुरूप कर्म की कर्मवत्ता एक जैसी नहीं होती, भले वे ऊपर से देखने में कितने भी समान क्यों न लगती हों।

---

[2] *आर्यन पथ* (1938), हिंद स्वराज्य विशेषांक, सितम्बर.

II

कम्युनिस्ट घोषणापत्र और *हिंद स्वराज* दोनों के विचार-विधान और अपनी बातों के कहने के ताने-बाने बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। समकालीन परिस्थितियों के विश्लेषण, उनका कारणात्मक विवेचन और उनसे त्राण पाने के उपायों का संकेत दोनों विचार-प्रबंधों की शैलीगत विशेषता कही जा सकती है। लेकिन दोनों दस्तावेज़ों के निदानपरक कार्य-क्षेत्रों का संदर्भ अलग-अलग रहा है। मेनिफ़ेस्टो का संदर्भ-कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से युरोप है तो *हिंद स्वराज* का हिंदुस्तान। इस प्रसंग में यहाँ एक उल्लेखनीय बात यह है कि दोनों दस्तावेज़ों में अपनी कार्ययोजना को चरितार्थ करने के लिए द्विस्तरीय लक्ष्यों का निर्धारण किया गया है। इस दृष्टि से देखने पर मेनिफ़ेस्टो का संदर्भ 'यूरोप' और *हिंद स्वराज* का संदर्भ 'हिंदुस्तान' उनके प्राथमिक लक्ष्य से संबंधित है। इनका दूसरा लक्ष्य बहुत व्यापक है जो किसी देश-काल और राष्ट्र-राज्य की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ पूरी मानवता को अपने में समेट लेता है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र का प्राथमिक रूप से घोषित लक्ष्य है, 'प्रथम चरण में श्रमिक वर्ग द्वारा क्रांति के माध्यम से सर्वहारा को शासक के स्तर पर पहुँचना जिससे सही अर्थों में जनतंत्र की विजय सम्भव हो।'[3] इसका उत्तर-लक्ष्य है, 'सर्वहारा यदि बूर्ज्वा वर्ग के साथ संघर्ष में परिस्थितियों के दबाव के कारण अपने को एक वर्ग-रूप में गठित करने को विवश होता है, यदि क्रांति के माध्यम से वह अपने को शासक वर्ग बना लेता है और इस प्रकार बलपूर्वक उत्पादन की पुरानी परिस्थितियों को समेट लेता है तो वह इन परिस्थितियों के साथ-साथ वर्ग-विद्वेष और वर्गों के सामान्य अस्तित्व को भी समेट लेगा और तब स्वयं अपने वर्ग की प्रभुता को भी विनष्ट कर देगा। इस तरह एक ऐसे संघ की स्थापना साकार हो सकेगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र विकास सबके स्वतंत्र विकास का अनुषंगी होगा।'[4] मार्क्सवादी विचारधारा में इसी को चरम लक्ष्य कहा गया है जहाँ राजसत्ता स्वयं अपना काम करके समाप्त हो जाएगी और वर्ग-विहीन, राज्य-विहीन समाज की स्थापना होगी।

अब यदि मेनिफ़ेस्टो के प्राथमिक लक्ष्य के क्रियान्वयन पर विचार किया जाए तो कहा जा सकता है कि वह कुछ टेढ़े-मेढ़े ढंग से अथवा राज्यवादी ढंग से पूरा हुआ। टेढ़े-मेढ़े ढंग से इसलिए कि मार्क्स ने 1882 में मेनिफ़ेस्टो के एक रूसी संस्करण की भूमिका लिखते हुए आशा व्यक्त की थी कि यदि रूस में क्रांति होती है तो पश्चिम में सर्वहारा-क्रांति के लिए यह कार्य-संकेत होगी जिससे दोनों एक दूसरे के पूरक हो सकेंगे। लेकिन द्रष्टव्य है कि मार्क्स की आशा के अनुरूप ही लेनिन के नेतृत्व में रक्तरंजित रूसी क्रांति तो हुई लेकिन स्वयं रूस में ही उसका प्रभाव और अस्तित्व लगभग सात दशकों तक ही बना रह सका। पश्चिम में मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुरूप कोई सर्वहारा-क्रांति नहीं हुई और पूर्वी युरोप के देशों में मार्क्सवाद का प्रभाव जो फैला था वह भी जल्दी ही सिमट कर रह गया। इस तरह कहा जा सकता है कि मेनिफ़ेस्टो का प्राथमिक लक्ष्य ही यदि अल्पायु सिद्ध हुआ तो उसके चरम लक्ष्य को यथार्थ से बहिष्कृत परिकल्पना के रूप में ही स्वीकार करना होगा। वास्तविकता भी यही है कि पूँजीवादी राज्य-व्यवस्था के विकल्प के रूप में कम्युनिज़म आज मृत अथवा मृतप्राय ही है, लेकिन इसमें दो राय नहीं कि एक विचार-व्यवस्था के रूप में उसका स्थान मनुष्य की आदर्शोन्मुखी चेतना में सदैव सुरक्षित रहेगा।

अब आइए *हिंद स्वराज* के द्विस्तरीय लक्ष्यों पर विचार करें। इसे स्वयं गाँधी के शब्दों में उपस्थापित करना ज़्यादा उचित होगा। 1921 के *यंग इण्डिया* के जनवरी अंक में गाँधी ने अपने

---

[3] कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिख़ एंगेल्स (1948), *मेनिफ़ेस्टो ऑफ़ द कम्युनिस्ट पार्टी,* फ़ॉरेन लैंग्वेजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मास्को : 70.

[4] मार्क्स, वही : 72.

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 228

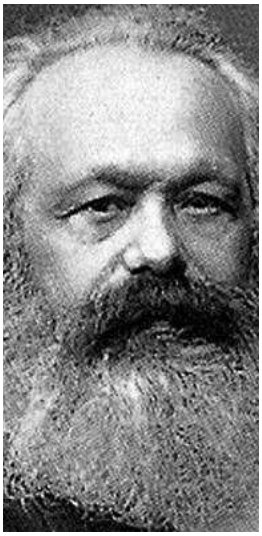

मशीन और मशीनी सभ्यता से मार्क्स का विरोध पूँजी के केंद्रीकरण, उत्पादन की प्रचुरता और तज्जन्य सभ्यता की अधिकायकता को लेकर है। इसे हायपर इण्डस्ट्रियलायज़ेशन और मेगा-टेक्नालॅजी के प्रति अंततः एक परिसीमनवादी दृष्टिकोण के रूप में समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो मशीन और मशीनीकृत औद्योगीकरण की मार्क्सवादी आलोचना इस बात से संबंधित नहीं है कि किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है, बल्कि इस बात से संबंधित है कि किस तरह से वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

अभिप्राय को बड़े अच्छे ढंग से स्पष्ट किया है, 'मैं पाठकों को एक चेतावनी देना चाहता हूँ। वे ऐसा न समझें कि *हिंद स्वराज* में जिस 'स्वराज' की तस्वीर मैंने खड़ी की है वैसा स्वराज क़ायम करने के लिए आज मेरी कोशिश भी चल रही है। मैं जानता हूँ कि अभी हिंदुस्तान उसके लिए तैयार नहीं है। ऐसा कहने में शायद ढिठाई का भास हो, लेकिन मुझे तो पक्का विश्वास है कि *हिंद स्वराज* में जिस स्वराज की तस्वीर मैंने खींची है, वैसा स्वराज पाने की मेरी नितांत निजी कोशिश ज़रूर चल रही है। लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि आज मेरी सामूहिक प्रवृत्ति का ध्येय तो हिंदुस्तान की प्रजा की इच्छा के मुताबिक़ पार्लियामेण्टरी ढंग का स्वराज पाना है। रेलों और अस्पतालों का नाश करने का ध्येय मेरे मन में नहीं है, अग़रचे उनका कुदरती नाश हो तो मैं उसका स्वागत करूँगा।' गाँधी के इस स्पष्टीकरण से स्वतः स्पष्ट है कि *हिंद स्वराज* का प्राथमिक लक्ष्य हिंदुस्तान में पार्लियामेण्टरी ढंग का राजनीतिक स्वराज पाना था। ध्यान रहे कि पार्लियामेण्टरी व्यवस्था को (ब्रिटिश पार्लियामेण्ट) गाँधी ने *हिंद स्वराज* के प्रथम संस्करण में वेश्या पद से अभिहित किया था और बाद के संस्करणों में इस शब्द को हटा दिया था। *हिंद स्वराज* का दूसरा अर्थात् उत्तर-लक्ष्य था— वास्तविक अर्थों में स्वराज यानी सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा इत्यादि सनातन मूल्यों पर आधारित एक पूर्ण सभ्यता-बोध को धरती पर उतारना और इसके अवतरण के लिए प्रथम और उपर्युक्त भूमि आर्यावर्त (भारत) को बनाना, क्योंकि गाँधी के स्वराज-परिकल्पना के मूल में जो व्यक्ति खड़ा है वह पूरे तौर से विशुद्ध भारतीय धर्म-बोध से युक्त व्यक्ति है। यह एक व्यापकतर लक्ष्य था, क्योंकि गाँधी को इस सत्य का अभ्रांत बोध था कि हिंदुस्तान की पराधीनता वास्तव में भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध किसी एक देश की पराधीनता नहीं बल्कि एक सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति की पराधीनता है। वह भी ऐसी सभ्यता और संस्कृति जिसके लिए उन सभी मानव प्रवृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह, मद, मत्सरादि) से भी मुक्ति काम्य है जिन्हें अन्य सभ्यताएँ न्यूनाधिक रूप से मानव-स्वभाव अथवा मनुष्य का सत्य समझती हैं। युरोपीय सभ्यता मानव-सत्य के ऐसे ही दृष्टिकोण पर टिकी हुई सभ्यताओं में अग्रणी है और पराधीन भारत इसी 'ऐंद्रिक सभ्यता' (सेंसेट कल्चर) की चपेट में चतुर्दिक रूप से दमित हो रहा था। अपने इसी बोध के कारण गाँधी हिंदुस्तान के स्वाधीनता आंदोलन को भारत की राजनीतिक आज़ादी मात्र का आंदोलन नहीं मानते थे बल्कि अपने व्यापकतर लक्ष्य के संदर्भ में मानव-मुक्ति की लड़ाई कहते थे ।

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 229

> **यशदेव शल्य ने नेहरू के इस आयाम पर टिप्पणी करते हुए उचित ही कहा है कि 'अवश्य उन्हें (नेहरू) देश से प्रेम था लेकिन राजनीतिक देश से, सांस्कृतिक देश से नहीं। उनका सांस्कृतिक देश तो आधुनिक पश्चिम था— वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी संस्कृति का पश्चिम।' ... मार्क्स का उत्तर-लक्ष्य (वर्ग विहीन-राज्य विहीन समाज) जिस तरह इतिहास का सत्य नहीं बन पाया, उसी तरह गाँधी का उत्तर-लक्ष्य स्वयं गाँधी के स्वराज के रूप में तो पूर्णतः चरितार्थ हुआ लेकिन वह हिंदुस्तान का स्वराज नहीं बन पाया।**

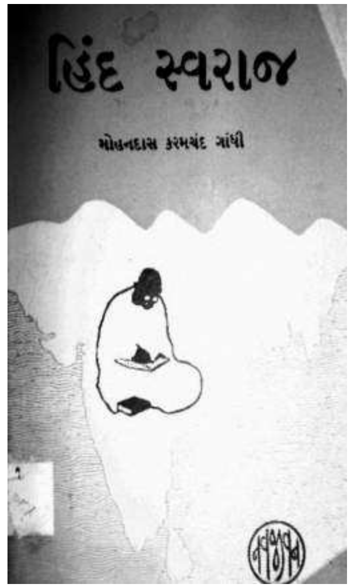

इस प्रकार, अब यदि, *हिंद स्वराज* के द्विस्तरीय लक्ष्यों के क्रियान्वयन पर विचार किया जाए तो उसका प्राथमिक लक्ष्य यानी पार्लियामेण्टरी ढंग का राजनीतिक स्वराज तो 1947 में प्राप्त हुआ और वह *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* के प्राथमिक लक्ष्य की तुलना में अधिक टिकाऊ भी सिद्ध हुआ, क्योंकि 1947 से लेकर आज तक पार्लियामेण्टरी डेमॉक्रैसी की जड़ें भारत में उत्तरोत्तर गहरी ही होती जा रही हैं। गाँधी की इच्छा थी कि स्वतंत्र भारत के राष्ट्रपति पद पर कोई हरिजन स्त्री आसीन हो। उनकी यह इच्छा भी निकट भविष्य में कभी न कभी पूरी हो ही जाएगी। लेकिन गाँधी की एक गहरी चिंता जो गोरे साहबों के बाद भूरे साहबों से थी, वह आज भी न केवल क़ायम है, बल्कि अपनी हद पार कर चुकी है। अब जहाँ तक *हिंद स्वराज* के उत्तर-लक्ष्य का प्रश्न है तो आज़ाद भारत में पार्लियामेण्टरी स्वराज को जिस तरह लागू किया गया— वह गाँधी के सच्चे स्वराज की परिकल्पना चरितार्थ करने का सोपान नहीं बन पाया। गाँधी पार्लियामेण्टरी व्यवस्था को आज़ाद भारत में 'ग्राम स्वराज' के रूप में अपना कर उसे अपने उत्तर-लक्ष्य 'सम्पूर्ण स्वराज'का सोपान बनाना चाहते थे। लेकिन एक विडम्बना ने सब कुछ को अन्यथा करके रख दिया। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि नेहरू, जिन पर स्वयं गाँधी फ़िदा रहते थे, ने जब इस देश की बागडोर सँभाली तो उन्होंने न केवल *हिंद स्वराज* की कार्य-योजना को ही मिटा दिया, बल्कि स्वाधीनता आंदोलन की उस वैचारिक विरासत को भी भुला दिया जो पश्चिमी अन्तराय से मुक्त थी। उन्होंने आधुनिक भारत को बिलकुल अपनी आवक्ष प्रतिमा के रूप में गढ़ने का प्रयास किया। हाँ, नेहरू ने गाँधी के आदर्शों का कहीं उपयोग भी किया तो केवल 'इण्टरनेशनल पीस पॉलिटिक्स' के मुखौटे के तौर पर। यशदेव शल्य ने नेहरू के इस आयाम पर टिप्पणी करते हुए उचित ही कहा है कि 'अवश्य उन्हें (नेहरू) देश से प्रेम था लेकिन राजनीतिक देश से, सांस्कृतिक देश से नहीं। उनका सांस्कृतिक देश तो आधुनिक पश्चिम था— वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी संस्कृति का पश्चिम।'[5] इस प्रकार कहा जा सकता है कि मार्क्स

---

[5] यशदेव शल्य (2004), *समसामयिक चिंताएँ*, राका प्रकाशन, इलाहाबाद : 72.

का उत्तर-लक्ष्य (वर्ग विहीन-राज्य विहीन समाज) जिस तरह इतिहास का सत्य नहीं बन पाया, उसी तरह गाँधी का उत्तर-लक्ष्य स्वयं गाँधी के स्वराज के रूप में तो पूर्णत: चरितार्थ हुआ लेकिन वह हिंदुस्तान का स्वराज नहीं बन पाया। अतएव *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* और *हिंद स्वराज* का केवल प्राथमिक लक्ष्य ही प्रयोगभूत हुआ।

III

यद्यपि *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* के प्राथमिक लक्ष्य 'सर्वहारा का शासन' और *हिंद स्वराज* के प्राथमिक लक्ष्य 'पार्लियामेण्टरी ढंग का राजनीतिक स्वराज' हासिल करने के तरीक़ों को लेकर मार्क्स और गाँधी के बीच प्रकटत: विरोध है। इसे ख़ूनी क्रांति और अहिंसक क्रांति (सत्याग्रह) के मध्य अवधारणात्मक विरोध के रूप में समझा जा सकता है। गाँधी मार्क्स के 'साम्य' को 'सौम्य' की शर्त पर ही न्यूनाधिक रूप में स्वीकार करने के पक्षधर थे और इस शर्त पर उन्हें मार्क्स की बहुत सी बातों को यथावत मान लेने से कोई परहेज़ नहीं था। लेकिन स्वयं मार्क्स गाँधी के स्वराज की संकल्पना और उसे प्राप्त करने के उपायों का किस रूप में और किस सीमा तक अनुमोदन करते, इस प्रश्न के उत्तर से इतिहास वंचित रह गया। द्रष्टव्य है कि एक ओर जहाँ दोनों दस्तावेज़ों में प्राथमिक लक्ष्य को प्राप्त करने के उपायों को लेकर गहरा मतभेद है, वहीं उत्तर-लक्ष्य से संबंधित उसके एक विशिष्ट पूर्व-पक्ष की समझ और उसकी आलोचना को लेकर दोनों में गहरी समानता भी है । वह विशिष्ट पूर्वपक्ष है— तकनीकी विश्व-दृष्टि और मशीनी सभ्यता की आलोचना, जो अपने हृदय में एक वैकल्पिक सभ्यता-बोध को छिपाए हुए है। यद्यपि मार्क्स ने इस पूर्व-पक्ष को उतनी गम्भीरता से नहीं लिया है जितनी गहराई और गम्भीरता से उसे गाँधी ने लिया है। गाँधी स्वयं इस बात को स्वीकार भी करते हैं कि 'इस किताब में (*हिंद स्वराज* में) आधुनिक सभ्यता की सख़्त टीका की गयी। 1909 में लिखी इस किताब में जो मेरी मान्यता प्रकट की गयी है वह आज पहले से ज़्यादा मज़बूत हो गयी है। मुझे लगता है कि अगर हिंदुस्तान 'आधुनिक सभ्यता' का त्याग करेगा, तो उसे लाभ ही होगा।'[6] अतएव यह कहना अनुचित नहीं होगा कि यंत्र-प्रधान आधुनिक सभ्यता की आलोचना तो दोनों करते हैं लेकिन *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में जहाँ यह आलोचना हाशिये पर है, वहीं *हिंद स्वराज* में यह केंद्र में है। मार्क्स यंत्र-प्रधान वैज्ञानिक तकनीकी दृष्टि की आलोचना करते हुए किसी वैकल्पिक सभ्यता-बोध की बात नहीं करते बल्कि वे आधुनिक सभ्यता में यंत्रों के अत्याचार और तज्जन्य सभ्यता की अधिकायकता से उसे मुक्त करना चाहते हैं। गाँधी आधुनिक मशीनी सभ्यता को उसकी पूरी ज्ञानमीमांसा के साथ निरस्त करते हैं और हमारे सामने एक वैकल्पिक सभ्यता बोध भी प्रस्तावित करते हैं।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में यंत्र-प्रधान उद्योगों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'आधुनिक उद्योगों ने पैतृक पद्धति से चलने वाले उस्ताद कारीगरों की छोटी-सी कार्यशाला को औद्योगिक पूँजीपति के एक बड़े कारख़ाने में बदल कर रख दिया है। कारख़ाने में भरी मज़दूरों की भीड़ सिपाहियों की तरह व्यवस्थित की जाती है। औद्योगिक सेना के रंगरूटों की तरह उन्हें अफ़सरों और सार्जेण्टों की सुघड़ व्यवस्था के अंतर्गत रखा जाता है। वे न केवल बूर्ज़्वा वर्ग और उस बूर्ज़्वा राज्य के ग़ुलाम हैं बल्कि दैनिक और घंटावार हिसाब से मशीन के दास बना दिये गये हैं।'[7] पुन: कुछ भिन्न आशय से मशीनी सभ्यता की आलोचना करते हुए कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो में कहा गया है

---

[6] मोहनदास करमचंद गाँधी (1921), *हिंद स्वराज* के बारे में, *यंग इण्डिया* (*यंग इण्डिया* के गुजराती अनुवाद से) (जनवरी, 1921).

[7] मार्क्स, वही : 51.

कि 'संकट के इन क्षणों में एक महामारी फैली है जो पिछले युगों में एक अनर्थकता सी लगती थी— अति उत्पादन की महामारी। समाज एकबारगी अपने को एक क्षणिक बर्बरता की स्थिति में धकेला हुआ पाता है। ऐसा लगता है जैसे किसी दुर्भिक्ष, सार्वभौम युद्ध के ध्वंस ने जीवनयापन के सभी साधनों को नष्ट कर दिया है, उद्योग-व्यापार समाप्त हुए लगते हैं। यह सब क्यों? क्योंकि सभ्यता की अधिकायत हो गयी है, जीवनयापन के साधन बहुत अधिक हैं, बहुत अधिक उद्योग हैं, बहुत अधिक व्यापार है।'[8]

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के उपर्युक्त दोनों संदर्भों से यह बात स्पष्ट रूप में समझी जा सकती है कि मार्क्स का मशीन और मशीनी सभ्यता से विरोध पूँजी के केंद्रीकरण, उत्पादन की प्रचुरता और तज्जन्य सभ्यता की अधिकायकता को लेकर है। इसे हायपर इण्डस्ट्रियलायज़ेशन और मेगा-टेक्नालॅजी के प्रति अंततः एक परिसीमनवादी दृष्टिकोण के रूप में समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो मशीन और मशीनीकृत औद्योगिकीकरण की मार्क्सवादी आलोचना इस बात से संबंधित नहीं है कि किस प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है, बल्कि इस बात से संबंधित है कि किस तरह से वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। इसके विपरीत, इस संबंध में गाँधी की आलोचना यंत्रारूढ़ उत्पादन के प्रकारों और उत्पादन के तरीक़ों दोनों से संबंधित है। यंत्रारूढ़ उत्पादन के तरीक़े पूँजीवाद को, अमीर-ग़रीब की खाई को, एक वर्ग-विशेष के शोषण को बढ़ाते हैं। गाँधी को इन सभी बातों को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। लेकिन गाँधी की जो आपत्ति है वह मूलगामी प्रकार की है और वह यह कि यंत्रारूढ़ उत्पादन का प्रकार अंततः मनुष्य की मनुष्यता को ही बिगाड़ देता है। इसीलिए गाँधी बारम्बार यह कहते थे कि आधुनिक सभ्यता और आधुनिक मशीनों का प्रयोग मनुष्य को बिगाड़ने वाला है। कुल मिलाकर मार्क्स के लिए यंत्रजनित सभ्यता की अधिकायकता एक महामारी है जिसका उपचार किया जाना चाहिए, लेकिन गाँधी की दृष्टि में जो सभ्यता आधुनिक मशीनों के साथ पूरी दुनिया में आताल-पाताल तक फैल रही है, वह महापाप है और उसका सर्वथा त्याग ही किया जाना चाहिए।[9]

IV

आधुनिक सभ्यता की आलोचना *हिंद स्वराज* के केंद्र में है, इसे स्पष्ट करने के लिए प्रकृत प्रश्न पर थोड़े विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। द्रष्टव्य है कि *हिंद स्वराज* में प्रारम्भ से लेकर अंत तक गाँधी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना बहुआयामी रूप से और विभिन्न प्रसंगों में की है। इसके अतिरिक्त हिंद स्वराजोत्तर लेखन में भी वे विभिन्न संदर्भों में अपना आशय स्पष्ट करते रहे हैं। यद्यपि उनकी आलोचना में एकस्वरता और वैचारिक दृढ़ता दोनों दिखाई पड़ती है लेकिन उनकी सीधी और सपाट शैली से न तो उसका अंतरार्थ प्रकट हो पाता है और न ही उसके पीछे का सैद्धांतिक आधार। अतएव गाँधी के तात्पर्य को खोलने के लिए उनकी आलोचनाओं पर द्विपक्षीय ढंग से विचार किया जाना चाहिए। एक पक्ष आधुनिक सभ्यता की आलोचना और दूसरा आधुनिक सभ्यता और तकनीकी के अंतर्संबंध का पक्ष। साथ ही साथ यह भी देखा जाना चाहिए कि इन दोनों पक्षों पर कितने दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है।

अब यदि गाँधी की आलोचना के प्रथम पक्ष पर विचार किया जाए तो प्रथमदृष्टया कोई यह कह सकता है कि *हिंद स्वराज* में गाँधी ने आधुनिक सभ्यता की आलोचना जिस रूप में की है उससे ऐसा

---

[8] मार्क्स, वही : 48-49.

[9] गाँधी ने इस संदर्भ में 'महापाप' शब्द का प्रयोग *हिंद स्वराज* के 'मशीनें' नामक उन्नीसवें अध्याय में इस तरह से किया है, 'यंत्र आज की सभ्यता की मुख्य निशानी है और वह महापाप है, ऐसा मैं तो साफ़ देख सकता हूँ.'

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 232

गाँधी की आलोचना अपने आप में पश्चिमी सभ्यता की स्वतंत्र और स्वायत्त आलोचना नहीं है। इसका उद्देश्य भारतवासियों को अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति (अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने से) उपजी हीन भावना से उबारना था। यह बात श्री अरविंद द्वारा लिखी गयी *फाउण्डेशंस ऑफ़ इण्डियन कल्चर* से भी समर्थित की जा सकती है जो *हिंद स्वराज* के आस-पास ही लिखी गयी थी।

प्रतीत होता है कि वे इस आलोचना द्वारा भारतीय जनमानस में अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति स्वाभिमान जगाना चाहते थे। वे भारतवासियों के मन में यह बैठाना चाहते थे कि हम जिस पश्चिमी सभ्यता को उत्कृष्ट मानकर अभिभूत हो रहे हैं, वह वस्तुत: अभिभूत होने लायक़ ही नहीं है। इसीलिए वे अपनी आलोचना को सर्वथा नवीन न कह कर यह मानते थे कि कुछ पश्चिमी विद्वानों (टालस्टॉय, कार्पेण्टर, थोरो और रस्किन) ने भी उनसे पहले आधुनिक सभ्यता की आलोचनाएँ की हैं। अत: गाँधी की आलोचना अपने आप में पश्चिमी सभ्यता की स्वतंत्र और स्वायत्त आलोचना नहीं है। इसका उद्देश्य भारतवासियों में अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रति (अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने से) उपजी हीन भावना से उबारना था। यह बात श्री अरविंद द्वारा लिखी गयी *फाउण्डेशंस ऑफ़ इण्डियन कल्चर* से भी समर्थित की जा सकती है जो *हिंद स्वराज* के आस-पास ही लिखी गयी थी। श्री अरविंद ने जहाँ पाश्चात्य प्राच्यविदों के भारतीय संस्कृति विषयक दुष्प्रचार के विरोध में अकादमिक ढंग से भारतीय संस्कृति के गुणों को उद्‌धाटित किया है, वहीं गाँधी ने सीधे-सपाट शब्दों में पश्चिमी सभ्यता की आलोचना की है। इस लिहाज़ से इन दोनों ग्रंथों का ध्येय भारतीय नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन की सांस्कृतिक चेतना को पुष्ट करना था।

लेकिन *हिंद स्वराज* में गाँधी कृत आधुनिक सभ्यता की आलोचना का इस रूप से मूल्यांकन कि वह अपने आप में स्वायत्त आलोचना नहीं बल्कि किसी अवांतर उद्‌देश्य की पूर्ति का निमित्त मात्र है; उसके अकादमिक मूल्य का अवमूल्यन करना है। गाँधी की आलोचना की यह प्रतिध्वनि तो हो सकती है लेकिन उसकी ध्वनि नहीं। *हिंद स्वराज* की ध्वनि तो यह देखने में है कि हिंदुस्तान किस तरह एक ऐसी सभ्यता के चपेट में आत्मविस्मृति को प्राप्त हो रहा है जिसे पैगम्बर मुहम्मद की पदावली में शैतानी सभ्यता और हिंदू धर्म की शब्दावली में निरा कलियुग कहने में भी कोई दोष नहीं।[10] स्वयं *हिंद स्वराज* की पुस्तकीय संरचना से भी इस बात को समर्थन मिलता है कि गाँधी की आलोचना कोई अंतरिम आलोचना नहीं बल्कि पूरे तौर से आत्मचेतन आलोचना है क्योंकि इसके अंतर्गत आधुनिक सभ्यता के उन सभी पहलुओं की आलोचना की गयी है जिनके माध्यम से कोई सभ्यता मनुष्य के जीवन-संस्थान को चतुर्दिक रूप से व्याप्त करती है। उदाहरण के लिए *हिंद स्वराज* में 'इग्लैण्ड की हालत' का चित्रण करते हुए गाँधी विशेष रूप से पार्लियामेण्टरी शासन-व्यवस्था की

[10] गाँधी *हिंद स्वराज* के तेरहवें अध्याय में एक प्रश्न (सभ्यता कहें तो किसे कहें) के उत्तर में कहते हैं कि 'मैं यह मानता हूँ कि जो सभ्यता हिंदुस्तान ने दिखाई है, उस तक दुनिया में कोई नहीं पहुँच सकता. जो बीज हमारे पुरखों ने बोये हैं, उनकी बराबरी कर सके, ऐसी चीज़ देखने में नहीं आयी. रोम मिट्‌टी में मिल गया, ग्रीस का सिर्फ़ नाम ही रह गया, मिस्र की बादशाही चली गयी, जापान पश्चिम के शिंकजे में फँस गया और चीन का कुछ कहा नहीं जा सकता. लेकिन हिंदुस्तान गिरा-टूटा जैसा भी हो, आज भी अपनी बुनियाद में मज़बूत है.'

आलोचना करते हैं और अंत में कहते है कि यह अंग्रेज़ों का दोष नहीं बल्कि उनकी आधुनिक युरोपीय सभ्यता का क़सूर है। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि गाँधी की दृष्टि में पार्लियामेण्टरी शासन-व्यवस्था अर्थात् बहुमत-आधारित संसदीय जनतंत्र आधुनिक सभ्यता बनाए रखने का शासनतंत्र है; क्योंकि इसके अंतर्गत सत्यासत्य और हेयोपादेयता का एकमात्र मानदण्ड बहुमत से समर्थित होना है। इसके अतिरिक्त गाँधी रेलगाड़ी, वकील, डॉक्टर, गोला-बारूद और मशीनों की आलोचना करते हुए वस्तुतः आधुनिक सभ्यता की क्रमशः यातायात-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, चिकित्सा-व्यवस्था, सामरिक-व्यवस्था और अभियांत्रिकी की भी आलोचना करते हैं तथा साथ ही साथ विकल्प के रूप में 'सच्ची सभ्यता' परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। यद्यपि गाँधी ने सच्ची सभ्यता की रूपरेखा विस्तार से निरूपित नहीं की है तथापि उनके वैकल्पिक सभ्यता बोध में धर्म-नीति पर आधारित हिंदुस्तानी सभ्यता दृष्टि की श्रेष्ठता का भाव मूल रूप से निहित है।[11] अपनी सभ्यता-दृष्टि और आधुनिक सभ्यता के नैतिक बलाबल को रेखांकित करते हुए गाँधी कहते हैं कि '*हिंद स्वराज* में जिस सभ्यता-बोध को प्रस्तावित किया गया है वह द्वेष-धर्म की जगह प्रेम-धर्म को सिखाता है, हिंसा के स्थान पर आत्म-बलिदान को रखता है, पशु-बल से टक्कर लेने के लिए आत्म-बल को खड़ा करती है।'[12] इस प्रकार कहा जा सकता है कि *हिंद स्वराज* में गाँधी ने आधुनिक सभ्यता की मूलगामी आलोचना करते हुए उसकी हेयोपादेयता की जाँच-पड़ताल के लिए एक व्यापक रूप-रेखा प्रस्तुत की है। यह कोई कामचलाऊ अंतरिम आलोचना नहीं है।

अब गाँधी की आलोचना का दूसरा पक्ष-अर्थात् 'आधुनिक सभ्यता और प्रौद्योगिकी का अंतर्संबंध' उनके विचार का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण पहलू है। उनकी दृष्टि में यंत्र आज की सभ्यता की मुख्य निशानी है और वह महापाप है। गाँधी की आज सर्वाधिक आलोचना भी इसी बात को लेकर होती है। द्रष्टव्य है कि गाँधी-चिंतन में आधुनिक यंत्रों की भर्त्सना का मूल उनके साधन की पवित्रता के सिद्धांत में ही निहित है, क्योंकि यंत्र प्रथम दृष्टया साधन ही हैं। यह बात अलग है कि यंत्र अपने मौलिक स्वरूप में तटस्थ साधन नहीं कहे जा सकते। यदि यंत्रों को तटस्थ साधन मान कर विचार किया जाए तो उनके दुष्परिणामों का प्रमुख दायित्व प्रयोक्ता की नैतिक चेतना पर चला जाता है। लेकिन यंत्र यदि अपने आप में तटस्थ साधन मात्र नहीं हैं तो उसके दुष्परिणामों को यंत्रों के स्वरूप से ही संबंधित मानना पड़ेगा। अतएव गाँधी ने आधुनिक सभ्यता में मशीनों की भूमिका पर, विभिन्न प्रसंगों में विचार करते हुए, उपर्युक्त दोनों ही दृष्टियों से मशीनों की आलोचना की है।

प्रथमतः, यांत्रिक उपकरणों की बेबाक आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि 'यंत्र तो साँप का ऐसा बिल है जिसमें एक नहीं सैकड़ों साँप रहते हैं।' पुनः वे कहते हैं कि 'यंत्र मरते-मरते यह कह जाता है कि मुझसे आप बचिए, होशियार रहिये मुझसे अंततः आपको कोई फ़ायदा होने का नहीं।'[13] ऐसे वक्तव्यों की प्रतीकात्मकता से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि गाँधी यंत्रों को स्वरूपतः उनके प्रत्यय में ही नकारने का विचार रखते थे। दूसरे, उनके कुछ वक्तव्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे यंत्रमात्र के विरोधी नहीं थे बल्कि यंत्रों के स्वरूप और उनके उपयोग की सीमा (हद) बाँधने के पक्षधर थे। इसलिए वे कहते थे कि विज्ञान का विकास और यंत्रों के आविष्कार को लोभ का साधन नहीं बनना चाहिए।[14] तीसरे, [15] उनके कुछ हिंद स्वराजोत्तर स्पष्टीकरणों से ऐसा अभिप्राय निकलता

---

[11] गाँधी ने *हिंद स्वराज* के छठे अध्याय 'सभ्यता का दर्शन' में आधुनिक सभ्यता को शैतानी और कलियुगी पद से सम्बोधित किया है.

[12] गाँधी, वही.

[13] दोनों संदर्भित वक्तव्य *हिंद स्वराज* के 'मशीनें' नामक अध्याय से.

[14] 1924 में रामचंद्रन और गाँधी के बीच हुए संवाद से.

[15] इसी संवाद से.

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 234

है कि वे यंत्रों के उपयोग के प्रति चयनधर्मी और परिसीमनवादी दृष्टिकोण रखते थे। उनकी इस दृष्टि में चयनधर्मिता का विशेषार्थ यंत्रों की प्रकृति और उनके प्रकार विषयक भेद में प्रतिफलित होती हुई प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए वे शरीर, चरखा और दाँत कुरेदनी को भी एक प्रकार का यंत्र मानते हैं और पुनः आगे ज़ोर देकर यंत्रों को परखने की भी बात कहते हैं। उनकी दृष्टि में ऐसे यंत्र नहीं होने चाहिए जो काम न करने की स्थिति में आदमी के अंगों को जड़ अथवा बेकार बना दे। इसका तात्पर्य यह है कि गाँधी मनुष्य के सहयोगी यंत्र के विरोधी नहीं थे। उनका विरोध ऐसे यंत्रों से था जो मनुष्य को विस्थापित कर अपनी स्वायत्तता स्थापित कर लेते हैं। इसलिए वे कहते थे कि टेढ़े तकुवे को सीधा करने वाले यंत्र का मैं स्वागत करता हूँ लेकिन लुहार के तकुवे बनाने का काम ही समाप्त हो जाए, यह मेरा उद्देश्य नहीं हो सकता। चौथे, अंत में गाँधी के इस असंतोष को रेखांकित करना ज़रूरी है कि आधुनिक सभ्यता और यंत्रों की आलोचना द्वारा जिस बात को वे लोगों के मन में बैठाना चाहते थे, उसे बैठा नहीं पा रहे थे। इसलिए वे महसूस करते थे कि आधुनिक सभ्यता ने ज़्यादातर लोगों को अपने मोह-जाल में इस तरह जकड़ लिया है और लोगों को उससे मुक्त कर उनकी दृष्टि को सच्ची सभ्यता की ओर उन्मीलित करना बड़ा ही दुष्कर कार्य है। मानो पश्चिमी विज्ञान ने मनुष्य को आधुनिक सभ्यता का वरदान देकर उसे अपने नागपाश में बाँध दिया हो।

V

अब यदि आधुनिक सभ्यता और यंत्रों की आलोचना के संदर्भ में मार्क्स और गाँधी के विचारों की तुलना करें तो स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि मार्क्स की आलोचना आधुनिक सभ्यता के अंतर्गत पनपी एक व्यवस्था (पूँजीवादी व्यवस्था) की आलोचना है जबकि गाँधी की आलोचना पश्चिमी विज्ञान के नेतृत्व में विकसित हो रही पूरी आधुनिक सभ्यता की आलोचना है। ऐसा भी नहीं कि गाँधी *हिंद स्वराज* में आधुनिक सभ्यता के प्रति कोई सुधारवादी दृष्टिकोण रखते हैं, बल्कि उनकी आलोचनाओं की ध्वनि उसे एक सिरे से ख़ारिज करने की प्रतीत होती है। इसके विपरीत मार्क्स अपने *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में आधुनिक सभ्यता का ही एक साम्यवादी संस्करण प्रस्तावित करते हैं। जहाँ तक आधुनिक सभ्यता और यंत्रों के अतंर्संबंध का प्रश्न है तो मार्क्स और गाँधी की आलोचनाओं से कुछ बिंदु जो उभर कर सामने आते हैं वे हैं तकनीकीकरण की अतिवादिता और सभ्यता की अधिकायकता का विरोध तथा मनुष्य और मशीन के मध्य मुक्त संबंध का प्रश्न। ये तीनों बिंदु दोनों की आलोचनाओं में निहित समान और साझे महत्त्व के कहे जा सकते है। लेकिन इस सूरत में भी दोनों की आलोचनाओं के फलितार्थ को एक नहीं कहा जा सकता। द्रष्टव्य है कि मार्क्स ने यंत्रों की भूमिका पर आलोचनात्मक रूप से विचार आधुनिक सभ्यता के एक ऐसे घटक के रूप में किया है जिसके अतिचार से पूँजीवाद को बढ़ावा मिलता है। पुनः मार्क्स अपने ई.पी.एम. में जहाँ चार प्रकार के एलियनेशन (बेगानेपन) की बात करते हैं वहाँ भी एलियनेशन के मूल कारण को वे आधुनिक सभ्यता की जीवन-दृष्टि में न देखकर पूँजीवादी उत्पादन की पद्धति और तज्जन्य उत्पाद्य-उत्पादक संबंध में ही देखते हैं जिसे आधुनिक अभियांत्रिकी और भी बढ़ा देती है। लेकिन गाँधी यंत्रों के उपयोग और उनके स्वरूप की आलोचना जिस तरह से करते हैं उसमें मार्क्स की आलोचना के सभी पक्ष समाहित तो हैं ही, लेकिन उससे आगे उसमें पश्चिमी विज्ञान की अतिवादिता की आलोचना भी पूर्वगृहीत है जो अंततः एक वैकल्पिक विज्ञान[16] की सम्भावना में प्रतिफलित होती हुई प्रतीत होती

[16] 'वैकल्पिक विज्ञान' विषयक गाँधी की दृष्टि के लिए देखें, आशिस नंदी (2009), *द इंटीमेट एनिमी : लॉस एण्ड रिकवरी ऑफ़ सेल्फ़ अण्डर कोलोनियलिज़्म,* ऑक्सफ़र्ड इण्डिया पेपरबैक्स, नयी दिल्ली.

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 235

है। पश्चिमी विज्ञान की अतिवादिता से गाँधी के अभिप्राय को इस तरह समझा जा सकता है कि मनुष्य के जैव भाव में ही अपने शरीर को संदर्भ बनाकर प्रकृति को विनियोजित करने की प्रवृत्ति मनुष्य की अविकसित से अविकसित अवस्था में भी न्यूनाधिक रूप से देखी जा सकती है। यह प्रवृत्ति भी एक प्रकार की वैज्ञानिक प्रवृत्ति है और इस वैज्ञानिकता का मनुष्य के जीवन के अन्य आयामों से कोई विरोध नहीं है।[17] लेकिन पश्चिमी विज्ञान ने आज मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा इन तीनों आयामों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है जबकि उसे शरीर-सेवा तक ही अपने कार्यक्षेत्र को सीमित रखना चाहिए और मन तथा आत्मा के आयाम जो सत्यान्वेषण और अभीप्सा के स्वतंत्र आयाम हैं; उन्हें अपने हस्तक्षेप से मुक्त रखना चाहिए। आज पश्चिमी विज्ञान मनुष्य के तन, मन और आत्मा को सत् विषयक अपनी नितांत भौतिकवादी अवधारणा में घटित कर एक जीवन-दृष्टि का रूप ग्रहण कर लिया है और इस तरह वह सभी प्रकार के धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन दृष्टियों का विस्थापक हो गया है। आधुनिक विज्ञान यदि अपनी भूमिका शरीर-सेवा तक सीमित रखे तो धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन दृष्टियों से उसका कोई विरोध ही नहीं होगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गाँधी का विरोध वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं बल्कि वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि से है। द्रष्टव्य है कि जीवन-दृष्टि अपने आप में वैज्ञानिक दृष्टि से व्यापक होती है, अतएव वैज्ञानिक दृष्टि को जीवन-दृष्टि का एक अंग होना चाहिए, न कि सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि। पश्चिमी विज्ञान के प्रति गाँधी की ऐसी ही परिसीमनवादी दृष्टि में वैकल्पिक विज्ञान का सूत्र निहित है और इसी परिसीमा में मनुष्य और विज्ञान के तकनीकी उपकरणों के मध्य मुक्त संबंध की सम्भावना भी निहित है। आधुनिक यंत्रों को पहचानने और उनका हद बाँधने से गाँधी के तात्पर्य का मार्क्स से भिन्न यही गूढ़ार्थ है।

VI

गाँधी के अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी में कोई दूसरा व्यक्ति यदि आधुनिक विज्ञान और तकनीकी की ऐसी मूलगामी आलोचना करता हुआ दिखाई पड़ता है तो वह है मार्टिन हाइडेगर। एक सभ्यता-विज्ञानी के रूप में आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सारतत्त्व की गहरी समझ हाइडेगर के दार्शनिक चिंतन का बेहद महत्त्वपूर्ण पक्ष है। मार्क्स और गाँधी जहाँ प्रौद्योगिकी को आधुनिक सभ्यता के एक महत्त्वपूर्ण उपकरणात्मक घटक के रूप में देखते है, वहीं हाइडेगर की दृष्टि में तकनीकी अपने आप में एक नये प्रकार की विश्व-सभ्यता की उद्‌भाविका है। ऐसी विश्व सभ्यता जो मनुष्य को उसके ही घर से बेघर कर देने वाली और दुनिया से दैवी दीप्ति उड़ा देने वाली है।[18] इसका उद्‌देश्य 'रीज़न' की अगुआई में जीवन और जगत का पूरे तौर से लौकिकीकरण कर देना है और लौकिकीकृत जगत के रंग-रोगन के लिए तकनीकी को विश्वकर्मा बना देना है। हाइडेगर के अनुसार तकनीक का अपना स्वरूप या निजी अर्थ स्वयं तकनीकी नहीं है। ऐसा माना जाता है कि तकनीक एक मानुषी कृति के रूप में मनुष्य के उद्‌देश्यों की पूर्ति का एक तटस्थ साधन मात्र है। लेकिन यह सही नहीं है और न ही इससे तकनीक के मूलतत्त्व का पता ही चलता है। गणितीय विज्ञान और तकनीकी को प्रयोग मात्र मान लेना दोनों के

---

[17] गाँधी विज्ञान के इसी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए उसकी प्रशंसा उसकी तीन महान् उपलब्धियों के लिए करते हैं, जिसमें पहला है— अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रवृत्ति, दूसरा है— प्रकृति की गहरी समझ और तीसरा है— जीवन के संगठनात्मक पक्ष का विकास. लेकिन इस प्रशंसा को आधुनिक पश्चिमी विज्ञान के उस स्वरूप की प्रशंसा नहीं समझना चाहिए जो मूलगामी रूप से ही जीवन और जगत के प्रति एक तकनीकी समझ को लेकर विकसित हुआ है.

[18] मार्टिन हाइडेगर ने 'लेटर ऑन ह्यूमनिज़्म' में मानवीय अस्तित्व के इतिहास में गृहविहीनता को आधुनिक विश्व के उस प्रारब्ध की तरह पेश किया है जिसकी अभिव्यक्ति प्रौद्योगिकी के ज़रिये होती है.

तात्त्विक स्वरूप और अंतर पर पर्दा डालना है। विज्ञान स्वयं में प्रायोगिक है। वह वस्तुजगत का साधारण निरेपक्ष ज्ञान नहीं है। वैज्ञानिक ज्ञान में जिज्ञासा का स्वरूप विशुद्ध ज्ञानमात्र के लिए नहीं बल्कि सत्ता का एक विशेष रूप में आविर्भाव और वस्तुओं का एक विशेष प्रकाश में ग्रहण है। तकनीकी वस्तुत: सत्ता के उसी विशेष रूप को आविर्भूत करने और वस्तुओं को उसी प्रकाश में ढालने का साँचा बनती है। इसलिए तकनीक का सारभूत अर्थ है 'जगत को एक विशेष साँचे में मढ़ देना' जिसे हाइडेगर अपनी शब्दावली में Gestell अथवा Enframing कहते हैं। हाइडेगर के दर्शन का मूलभूत प्रश्न है कि 'ऐसा क्यों है कि वस्तुएँ हैं, ऐसा क्यों नहीं है कि वस्तुएँ नहीं हैं?' यह प्रश्न वस्तुओं के होने की, उनकी भवितव्यता का प्रश्न है। तकनीक वस्तुओं के होने की निजता को ही अन्यथा कर इतिहास की एक अभूतपूर्व गति को जन्म देती है और इसकी परिणति अंतत: मनुष्य द्वारा सत्ता की विस्मृति में होती है। तकनीक के लिए यह सारा जगत जैसे एक संसाधन मात्र है, वैसे ही मनुष्य भी एक वस्तु ही है। तकनीक का कार्य दोनों को एक विशेष साँचे में ढालकर एक दूसरे के सम्मुख प्रस्तुत होने के लिए विवश कर देना है।

हाइडेगर विश्व के निर्बाध तकनीकीकरण को एक प्रकार की नास्तिकता (टेक्नॉलॅज़िकल निहिलिज़म) से अभिहित करते हैं और उनके अनुसार इस नास्तिकता से जो सर्वाधिक ख़तरे में है, वह है मनुष्य की प्रकृति। इसने मनुष्य की समझदारी को इस क़दर बदल दिया है कि उसकी मनुष्यता ही विलुप्त प्राय: हो रही है। हाइडेगर हमें आगाह करते हैं कि सबसे बड़ा जोखिम परमाणविक युद्ध का नहीं और न ही इसी प्रकार की किसी अन्य विध्वंसकारी तकनीक का है, बल्कि वास्तविक ख़तरा इस बात में निहित है कि कहीं एक दिन ऐसा न हो जाए कि जीवन और जगत की वैज्ञानिक – तकनीकी समझ को ही समझ का एकमात्र प्रकार स्वीकार कर लिया जाए।[19] आधुनिक सभ्यता के वर्तमान दौर में वस्तुत: ऐसी ही समझ एकरेखीय रूप से स्वीकार्य हो रही है। आज मनुष्य तकनीकी के अधिभार के समक्ष असहाय सा होकर रह गया है। यह अधिभार मनुष्य की रुचि, प्रवृत्ति, प्रेरणा और समस्त अभीप्साओं को अपने ही साँचे में ढालने लगा है और उसके साँचे से जो बाहर है वह सिर्फ़ बकवास मान लिया गया है।

अतएव हाइडेगर तकनीक के सारतत्त्व को समझने के उपरांत विश्व के निर्बाध तकनीकीकरण को मनुष्य की समझदारी की समस्या के रूप में देखते हैं और उनकी दृष्टि में इसका समाधान भी मनुष्य की समझदारी में ही निहित है। इसलिए हाइडेगर के दार्शनिक चिंतन का एक विशेष लक्ष्य विश्व के अप्रतिहत तकनीकीकरण के निहितार्थों का विश्लेषण कर तद्विषयक मनुष्य की समझदारी को बदलना है और इसके द्वारा मनुष्य को तकनीकी के साथ मुक्त संबंध के लिए तैयार करना है। हाइडेगर अपने एक महत्त्वपूर्ण आलेख 'दी क्वेश्चन कंसरनिंग टेक्नॉलॅजी'[20] में मनुष्य और तकनीकी के मध्य मुक्त संबंध को स्पष्ट करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि विज्ञान और तकनीकीजन्य विकास की अनदेखी नहीं की जा सकती, लेकिन उसे इस मूल्य पर स्वीकार भी नहीं किया जा सकता कि वह मनुष्य के मनुष्य होने को ही अर्थहीन बना दे। मनुष्य और तकनीक के मध्य मुक्त संबंध का मतलब तकनीकी संसाधनों को मिटाना नहीं है बल्कि उनका प्रयोग उसी सीमा तक किया जाना चाहिए जिस सीमा तक उन्हें अत्यावश्यक ठहराया जा सके। तकनीकी के प्रति ऐसी परिसीमनवादी दृष्टि से ही तकनीकी के अनावश्यक बोझ से मुक्त जीवन की कला विकसित की जा सकती है। हाइडेगर

---

[19] मार्टिन हाइडेगर (1969), 'मेमोरियल एड्रेस', *डिस्कोर्स ऑन थिंकिंग,* अनुवाद एम. एंडरसन और ई. हैंस फ्रेउंड, हार्पर कोलोफ़ोन बुक्स, न्यूयार्क : 69.

[20] सी.बी.के. जॉर्ज (2008), 'टेक्नॉलॅजी ऐंड द मॉडर्न प्रेडिकामेंट : हाइडेगर ऑन द सेविंग ग्रेस', जे.आई.सी.पी.आर. अंक 331-1 जनवरी-मार्च, 2008 : 95.

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 237

अपने एक विश्वप्रसिद्ध साक्षात्कार[21] में इस बात को ज़ोर देकर कहते हैं कि 'तकनीकी नास्तिकता' मनुष्य की कोई ऐसी नियति नहीं जिससे मुक्त होना सम्भव ही नहीं। लेकिन इससे वांछित मुक्ति किसी राजनीतिक कार्ययोजना द्वारा सम्भव न हो कर 'प्रोजेक्ट ऑफ़ थॉट' द्वारा सम्भव है। चूँकि तकनीकी ने हमारे सोच को ही बदला है, इसलिए उस सोच को ही बदलकर जीवन और जगत के मौलिक (ऑरिजिनल) स्वरूप को आत्मसात् किया जा सकता है। इस प्रकार के वैचारिक बदलाव की सम्भावना हाइडेगर जापान, रूस, चीन और भारत की प्राचीन बौद्धिक परम्परा और जीवन शैली में देखते हैं जिसे वे अपने-अपने तरीक़े से क्रियान्वित कर सकते हैं। लेकिन यह कहते हुए उनका यह भी मानना है कि पश्चिमी मन किसी पौर्वात्य अनुभव के सहयोग से अपने दृष्टिकोणों में इस प्रकार का आमूल परिवर्तन नहीं कर सकता जिससे कि वह निरंकुश तकनीकी नास्तिकता के चक्रव्यूह से उबर सके। यह सही है कि विचार द्वारा विचार को बदला जा सकता है लेकिन चिंतन की प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें रूपांतरण स्वकीय विचार परम्परा के अंतर्गत ही घटित होकर सार्थक होता है। अस्तु, पाश्चिमात्य मन की दुर्बलता और तकनीकी नास्तिकता के प्रतिरोध की अपरिहार्यता भाँपते हुए हाइडेगर ने उचित ही कहा है कि 'इन्हें कोई ईश्वर ही बचा सकता है'।

VII

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि मार्क्स, गाँधी और हाइडेगर तीनों ही आधुनिक सभ्यता और उसके तकनीकी पक्ष की आलोचना अपने-अपने ढंग से करते हैं। इसमें मार्क्स की आलोचना जहाँ पूँजी को केंद्र में रखकर की गयी है वहीं गाँधी की आलोचना मानवीयता-केंद्रित है और हाइडेगर की आलोचना मानव विषयिता-केंद्रित है। अपनी आलोचना के द्वारा हाइडेगर मर्मस्पर्शी दार्शनिक तरीक़े से यह बता पाने में सफल होते हैं कि आधुनिक तकनीकी सभ्यता की उपलब्धियों की चकाचौंध में मनुष्य ने अपना स्वत्व किस प्रकार खोया है। वे यह भी मानते हैं कि संसदीय जनतंत्र का राजनीतिक एजेण्डा और साम्यवाद आधुनिक सभ्यता की तकनीकी निरंकुशता का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त नहीं है।[22] यदि उनकी इस टिप्पणी को मान भी लिया जाए तो इस संकेतित अपर्याप्तता को गाँधी की आलोचनाएँ और उनके वैकल्पिक सभ्यता-बोध पर लागू नहीं किया जा सकता। वस्तुत: मार्क्स और हाइडेगर दोनों ही आधुनिक तकनीकी की आलोचना करते हुए विकल्प रूप में जीवन और जगत की प्राक्-वैज्ञानिक समझ ही प्रस्तावित कर सकते हैं। यह उनके भारतीय न होने अर्थात् पाश्चिमात्य होने की सीमा है। लेकिन यहाँ अवधेय है कि उनके इस प्रस्ताव के मूल में मनुष्य के जीवन का संवेगात्मक पक्ष ही पुनरोद्घाटित होता है जिसे आधुनिक युग को नेतृत्व प्रदान करने वाली 'सार्वभौमबुद्धि' द्वारा समता और स्वतंत्रता के नाम पर दबा दिया गया था। लेकिन गाँधी आधुनिक सभ्यता की आलोचना करते हुए विकल्प रूप में जो सभ्यता-बोध प्रस्तावित करते हैं और अपने 'ग्राम स्वराज' की संकल्पना में उसकी एक स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं, उसमें एक ओर आधुनिक तकनीकी की निरंकुशता का दबदबा नहीं है तो दूसरी ओर उसके आधार में मनुष्य

---

[21] मार्टिन हाइडेगर (1993), 'ऑनली अ गॉड कैन सेव अस : डेर स्पीगल्स इंटरव्यू विद मार्टिन हाइडेगर', अनुवाद मारिया पी. आल्टर और जॉन डी. कैपुटो, रिचर्ड वॉलिन (सम्पा.), *द हाइडेगर कंट्रोवर्सी : ए क्रिटिकल रीडर*, एमआईटी प्रेस, न्यूयार्क : 111-113.

[22] हाइडेगर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि न लोकतंत्र और न ही साम्यवाद प्रौद्योगिकीय विश्व के साथ टकराव में जा सकता है. अर्थात् वे इस तरह के टकराव को वांछित मानते हैं. वही : 105.

18_ambika_dutt_Layout 1 5/1/2014 4:11 PM Page 238

का संवेगात्मक पक्ष न होकर एक उदात्त आध्यात्मिक प्रज्ञा है।

गाँधी के इस सभ्यता बोध में मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण, प्रकृति का दोहन और तकनीकी द्वारा मनुष्य का वस्तुकरण तथा विस्थापन के लिए कोई अवकाश ही नहीं है। अतएव निष्कर्षात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि हाइडेगर ने आधुनिक तकनीकी के मूलतत्त्व को जिस दार्शनिक गहराई से समझा है और उसकी आलोचना की है, उससे गाँधीजी की आलोचना को और अधिक समृद्ध किया जा सकता है। लेकिन मार्क्स और हाइडेगर बदले में जिस विकल्प को प्रस्तावित करते हैं अथवा कर सकते हैं, वह गाँधी के वैकल्पिक सभ्यता-बोध से सम्पुटित होकर ही सम्पूर्ण हो सकता है।

संदर्भ

आशिस नंदी (2009), *द इंटीमेट एनिमी : लॉस ऐंड रिकवरी ऑफ़ सेल्फ़ अण्डर कोलोनियलिज़म,* ऑक्सफ़र्ड इण्डिया पेपरबैक्स, नयी दिल्ली.

कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिख़ एंगेल्स (1948), *मेनिफ़ेस्टो ऑफ़ द कम्युनिस्ट पार्टी,* फ़ॉरेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को.

ज़ाक बारज़ुन (2000), *फ़्रॉम डॉन टु डिकेडेंस : 500 इयर्स ऑफ़ वेस्टर्न कल्चरल लाइफ़,* हारपर कोलिंस, न्यूयार्क.

आर्यन पथ (1938), हिंद स्वराज्य विशेषांक, सितम्बर.

मोहनदास करमचंद गाँधी (1921), *हिंद स्वराज* के बारे में, *यंग इण्डिया* (*यंग इण्डिया* के गुजराती अनुवाद से).

मार्टिन हाइडेगर (1969), 'मेमोरियल एड्रेस', *डिस्कोर्स ऑन थिंकिंग,* अनु. एम. एंडरसन और ई. हैंस फ्रेउंड, हार्पर कोलोफ़ोन बुक्स, न्यूयार्क.

मार्टिन हाइडेगर (1993), 'ऑनली अ गॉड कैन सेव अस : डेर स्पीगल्स इंटरव्यू विद मार्टिन हाइडेगर', अनुवाद. मारिया पी. आल्टर और जॉन डी. कैपुटो, रिचर्ड वॉलिन (सम्पा.), द *हाइडेगर कंट्रोवर्सी : ए क्रिटिकल रीडर,* एमआईटी प्रेस, न्यूयार्क.

यशदेव शल्य (2004), *समसामयिक चिंताएँ,* राका प्रकाशन, इलाहाबाद.

सी.बी.के. जॉर्ज (2008), 'टेक्नोलॅजी एण्ड द मॉडर्न प्रेडिकामेंट : हाइडेगर ऑन द सेविंग ग्रेस', जे.आई.सी.पी.आर. अंक 331.